6.5 1935 का अधिनियम, "कागज़ी संघ" और रजवाड़े

1919 के कानून ने न तो भारतीय जनमत के किसी भाग को प्रभावित किया था, न लंदन में बैठे कंज़र्वेटिव लोगों को। राजनीतिक आंदोलनों ने यह बात स्पष्ट कर दी कि केंद्र सरकार पर अंग्रेज़ों के नियंत्रण को खतरे में डाले बगैर कांग्रेस को सत्ता में कुछ भागीदारी देनी ही होगी। इसलिए 1920 के दशक के अंत में सुधारों की नए सिरे से बहस शुरू हुई और लॉर्ड साइमन की अध्यक्षता में 1927 में एक संसदीय दल गठित किया गया। लेकिन साइमन आयोग जब भारत आया तो सभी राजनीतिक दलों ने उसका बहिष्कार किया, क्योंकि वह पूरी तरह यूरोपीय था और उसमें कोई भारतीय सदस्य नहीं था। अक्तूबर 1929 में लॉर्ड इर्विन ने यह घोषणा करके एक और रियायत दी कि पूर्ण डोमीनियन स्टेटस भारत की संवैधानिक प्रगति का स्वाभाविक लक्ष्य होगा, लेकिन इंग्लैंड में कंज़र्वेटिव मत वालों की नज़र में इसका कुछ भी अर्थ नहीं था। साइमन आयोग की रिपोर्ट जून 1930 में जारी की गई और उसने प्रांतों में द्विशासन (dyarchy) की जगह पूरी तरह ज़िम्मेदार सरकारों के गठन का सुझाव दिया, पर यूँ कि गवर्नरों के हाथों में कुछ आपातकालीन शक्तियाँ भी रहें, पर केंद्र सरकार की संरचना में किसी परिवर्तन का सुझाव नहीं दिया गया था। केंद्र पर सरकारी नियंत्रण बनाए रखने के इच्छुक इस प्रस्ताव ने भारत के किसी भी राजनीतिक समूह को संतुष्ट नहीं किया और इसे सविनय अवज्ञा आंदोलन के आरंभ हो जाने के कारण लागू भी नहीं किया जा सका। एक और रियायत के रूप में इर्विन ने भावी शासन प्रणाली पर बहस के लिए एक गोलमेज़ सम्मेलन का प्रस्ताव रखा। लेकिन लंदन में नवंबर 1930 और जनवरी 1931 के बीच आयोजित उसके पहले सत्र का कांग्रेस ने बहिष्कार किया। वहाँ ब्रिटिश भारत और रजवाड़ों के प्रतिनिधियों ने भारत के लिए ब्रिटिश नियंत्रण से मुक्त एक संघीय सरकार की आवश्यकता पर बहस की। लेकिन सम्मेलन की कोई खास उपलब्धि नहीं रही, क्योंकि लंदन में कंज़र्वेटिव वर्चस्व वाली राष्ट्रीय सरकार संघ के विचार को गंभीरता से लेने को तैयार नहीं थी। फिर गांधी को सितंबर-दिसंबर 1931 के बीच दूसरे गोलमेज़ सम्मेलन में भाग लेने के लिए तीन अस्पष्ट सिद्धांतों के आधार पर सहमत किया गया—संघ, उत्तरदायी शासन और आरक्षण व सुरक्षा उपायों के आधार पर। लेकिन गांधी की भागीदारी व्यर्थ

Scanned by CamScanner

रही, क्योंकि वार्ता अल्पसंख्यक समिति में, अलग निर्वाचकमंडल के सवाल पर, भंग हो गई; यह माँग अब मुसलमान ही नहीं बल्कि दलित (अछूत), एंग्लो-इंडियन, भारतीय ईसाई और यूरोपीय भी उठा रहे थे। सितंबर 1931 में ब्रिटिश राज में एक टोरी मंत्रिमंडल के गठन के बाद ब्रिटिश अधिकारियों का रुख और भी कड़ा हो गया।[116]

भारत के संवैधानिक इतिहास में एक और नाटकीय मोड़ तब आया जब प्रधानमंत्री रैम्ज़े मैकडोनल्ड ने अगस्त 1932 में अपने कम्यूनल (सांप्रदायिक) एवॉर्ड का ऐलान किया। उसने समुदायों के बीच प्रतिनिधित्व का वितरण किया और अलग निर्वाचनमंडल के प्रावधान को दलितों पर भी लागू किया। तब यरवदा जेल में बंद गांधी ने इसे हिंदू समाज को बाँटने की एक शातिराना चाल समझा, क्योंकि वे समझते थे कि दलित हिंदू समाज के अभिन्न अंग हैं। उनका तर्क था कि अलग निर्वाचक-मंडल का प्रावधान उनको राजनीतिक स्तर पर अलग कर देगा और हिंदू समाज में उनके एकीकरण का रास्ता हमेशा के लिए बंद कर देगा। इसलिए इस व्यवस्था को पलटने के लिए उन्होंने आमरण अनशन का निर्णय किया। पूरा देश बौखला उठा। हालाँकि दलित वर्गों के एम. सी. राजा जैसे कुछ नेता संयुक्त निर्वाचनमंडल के पक्ष में थे, पर उनमें सबसे प्रभावशाली डॉ. बी. आर. अंबेडकर ने अलग निर्वाचकमंडल के प्रावधान को दलितों के लिए राजनीतिक प्रतिनिधित्व पाने की अकेली आशा समझा (और विस्तार के लिए अध्याय 7.2 देखें)। लेकिन गांधी हालाँकि अलग प्रतिनिधिमंडल के विरोधी थे, पर आरक्षित सीटों के विचार के खिलाफ़ नहीं थे और अंततः अंबेडकर ने भी उसे स्वीकार कर लिया, क्योंकि दलित वर्गों के लिए आरक्षित सीटों की प्रस्तावित संख्या बढ़ा दी गई और ऐसे वर्गों के वास्ते समुचित प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करने के लिए चुनाव की एक द्विस्तरीय व्यवस्था की सिफ़ारिश की गई।[117] यही सितंबर 1932 के पूना समझौते (पूना पैक्ट) का आधार बना, जिसे बाद में सरकार ने भी स्वीकार कर लिया। नवंबर-दिसंबर 1932 का तीसरा गोलमेज़ सम्मेलन काफ़ी हद तक औपचारिक और महत्त्वहीन ही रहा, क्योंकि 112 प्रतिनिधियों में सिर्फ़ 46 ने उसमें भाग लिया। मार्च 1933 में एक श्वेतपत्र ने भारतीय जनमत से सिर्फ़ सलाह-मशवरे का प्रावधान करके एक संसदीय संयुक्त प्रवर समिति का गठन किया। इसलिए भारत सरकार अधिनियम, जिसने आखिरकार 1935 में मूर्त रूप लिया, किसी को भी संतुष्ट न कर सका। उसकी कांग्रेस ने भी आलोचना की और मुस्लिम लीग ने भी।

प्रांतों में 1935 के कानून ने द्विशासन की जगह तमाम विभागों में उत्तरदायी शासन की व्यवस्था की। लेकिन विधायिकाओं के सत्र बुलाने, विधेयकों पर सहमति देने और आदिवासी क्षेत्रों का प्रशासन चलाने के बारे में गवर्नरों को व्यापक विवेकाधीन शक्तियाँ देकर उसे संतुलित कर दिया गया। गवर्नरों को अल्पसंख्यकों के अधिकारों,

Scanned by CamScanner

सिविल कर्मचारियों के विशेषाधिकारों और अंग्रेज़ों के व्यापारिक हितों की सुरक्षा के लिए भी विशेष शक्तियाँ दी गई थीं। आखिरी बात यह कि एक विशेष प्रावधान के तहत वे अनिश्चितकाल के लिए किसी प्रांत का प्रशासन अपने हाथ में ले सकते थे। केंद्र में इस कानून ने एक संघीय ढाँचे की व्यवस्था की, लेकिन वह तभी लागू होती जबकि 50 प्रतिशत से अधिक रजवाड़े एक ऐसे विलयपत्र पर हस्ताक्षर करके औपचारिक रूप से उसे स्वीकार कर लेते, जो ब्रिटिश सम्राट के साथ उनकी पहले की तमाम संधियों को रद्द कर देता। इस कानून ने केंद्र में द्विशासन की व्यवस्था की, पर कुछ सुरक्षा उपायों के साथ, और विदेशी मामले, प्रतिरक्षा और आंतरिक सुरक्षा जैसे विभाग पूरी तरह वायसरॉय के नियंत्रण में होते। भारत सरकार की वित्तीय स्वतंत्रता की पुरानी माँग के जवाब में वित्तीय नियंत्रण का लंदन से नई दिल्ली को हस्तांतरण इस कानून की एक और विशेषता था। निर्वाचकमंडल को बढ़ाकर 3 करोड़ कर दिया गया, लेकिन संपत्ति संबंधी भारी अर्हताओं ने भारतीय जनता के 10 प्रतिशत भाग को मताधिकार से वंचित कर दिया। ग्रामीण भारत में इसने धनी और मझोले किसानों को मताधिकार दिया, जिनको कांग्रेस की राजनीति का प्रमुख आधार माना जाता था। इसलिए डी. ए. लो की शंका यह है कि यह कानून कांग्रेस के समर्थन में सेंध लगाने और इन महत्त्वपूर्ण वर्गों को अंग्रेज़ी राज से बाँधने का एक ज़रिया था। वे लिखते हैं कि "प्रभुत्वशाली किसान समुदायों की वफ़ादारी पाने की प्रतियोगिता" इस चरण में कांग्रेस और राज के बीच टकराव का केंद्र थी।[118] इसके अलावा दो सदनों वाली केंद्रीय विधायिकाओं में 30 से 40 प्रतिशत सीटों पर रजवाड़ों द्वारा नामज़द सदस्य बैठे होते और इस तरह कांग्रेस की बहुमत पाने की संभावना हमेशा के लिए समाप्त हो जाती। प्रांतीय और केंद्रीय विधायिकों में मुसलमानों को अलग निर्वाचकमंडल दिया गया और अनुसूचित जातियों (यह 'दलित वर्गों' या अछूतों के लिए एक नया शब्द था) के लिए सीटें आरक्षित की गईं। इसलिए लंदन में विपक्षी लेबर पार्टी ने यह कोई गलत तर्क नहीं दिया कि इस कानून का उद्देश्य वफ़ादार तत्त्वों को सत्ता में भागीदार बनाकर भारत में ब्रिटिश हितों की रक्षा करना था।

1935 के कानून ने डोमीनियन स्टेटस देने की कोई बात नहीं की, जिसका वादा सविनय अवज्ञा आंदोलन के दौरान किया गया था। विस्टन चर्चिल जैसे कट्टर कंज़र्वेटिव चाहे जितना भी सोचते रहे हों कि यह कानून ब्रिटिश राज द्वारा साम्राज्य का त्याग था, पर उसके सहयोगियों ने सचेत ढंग से संघीय ढाँचे का चुनाव किया क्योंकि, जैसा कि कार्ल ब्रिज ने तर्क दिया है, वह "मुख्यत: महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में नियंत्रण सौंपने की बजाय ब्रिटिश राज के हितों की सुरक्षा करता।"[119] उसका कुल प्रभाव यह हुआ कि कांग्रेस का ध्यान प्रांतों की ओर मुड़ गया, जबकि केंद्र पर ज़बरदस्त साम्राज्यिक नियंत्रण बना रहा। अगर कोई परिवर्तन हुआ तो यह हुआ, जैसा

Scanned by CamScanner

कि बी. आर. टॉमलिंसन ने दिखाया है, कि "साम्राज्यिक नियंत्रण की व्यवस्था का शीर्षस्थान लंदन से हटकर दिल्ली में आ गया।"[120] अब वायसरॉय को ऐसी अनेक शक्तियाँ मिलने जा रही थीं जो पहले भारत सचिव को मिली हुई थीं और इस तरह इससे भारत व ब्रिटिश राज के आपसी संबंधों को ऐसा नया रुझान मिला कि बुनियादी साम्राज्यिक हित सुरक्षित रह सकें। 1935 के भारत सरकार अधिनियम का महत्त्व सबसे अच्छी तरह स्वयं तत्कालीन वायसरॉय लॉर्ड लिनलिथगो के शब्दों में ही व्यक्त किया जा सकता है: "हमने बहरहाल 1935 का संविधान इसीलिए बनाया कि हम उसे साम्राज्य से भारत को बाँधे रखने का ··· सबसे अच्छा उपाय मानते थे।"[121]

1935 के कानून का प्रांतीय पक्ष 1937 के चुनावों के साथ लागू हुआ, लेकिन केंद्र में, जैसी कि टोरियों को संभवत: उम्मीद रही होगी, एक गतिरोध बना रहा, क्योंकि कानून का संघीय पक्ष चला ही नहीं और न उसमें सचमुच किसी की दिलचस्पी मालूम होती थी। पहली बात यह कि मुसलमान नेता हिंदू वर्चस्व को लेकर डरे हुए थे और महसूस करते थे कि प्रस्तावित संघीय ढाँचा अभी भी बहुत कुछ एकात्मक था। केंद्रीय विधायिका में ब्रिटिश भारत के सारे प्रतिनिधि प्रांतीय विधान सभाओं द्वारा निर्वाचित होते और यह बात मुसलमानों के खिलाफ़ जाती, क्योंकि वे चार को छोड़ सभी प्रांतों में अल्पमत में थे। इसलिए हालाँकि उन्होंने संघ का सार्वजनिक रूप से विरोध नहीं किया, पर वे निश्चित ही एक कमज़ोर केंद्र सरकार के साथ विकेंद्रीकरण के पक्ष में थे, जिससे मुस्लिम-बहुल प्रांतों में प्रांतीय सरकारों को अधिक स्वतंत्रता मिलती।[122] कांग्रेस ने भी संघ के प्रस्तावित ढाँचे को पसंद नहीं किया, क्योंकि संघीय विधायिका की एक-तिहाई सीटें रजवाड़ों द्वारा भरी जातीं और इस तरह लोकतांत्रिक भारत का मुकद्दर निरंकुश पुश्तैनी शासकों की मनमर्जी से बँध कर रह जाता।[123] लेकिन संघ की योजना अंतत: इसलिए असफल रही कि राजे-महाराजे भी उसमें शामिल होने से हिचक रहे थे। उनकी मुख्य आपत्ति यह थी कि इस कानून ने सर्वोच्चता के मुद्दे को हल नहीं किया था। सर्वोच्च सत्ता के रूप में भारत सरकार को अभी भी उनके रजवाड़ों में हस्तक्षेप करने का और आवश्यक हुआ तो उन्हें तख्त से हटाने तक का अधिकार मिला हुआ था। उनका दूसरा डर एक ऐसी लोकतांत्रिक संघवादी केंद्रीय सरकार में शामिल होने को लेकर था, जिसमें ब्रिटिश भारत के निर्वाचित राजनीतिक नेताओं को उनके निरंकुश शासन से शायद ही कोई हमदर्दी होती और वे उनके इलाकों में लोकतांत्रिक आंदोलनों को प्रोत्साहन देते। अलावा इसके, बड़े रजवाड़े अपनी वित्तीय स्वतंत्रता छोड़ना नहीं चाहते थे, जबकि छोटे रजवाड़े विधायिका में अपने अपर्याप्त प्रतिनिधित्व की शिकायतें कर रहे थे।[124] लेकिन राजाओं, महाराजाओं की इन चिंताओं को उनके सही ऐतिहासिक संदर्भ में रखकर देखें, तो वे अधिक अर्थपूर्ण दिखाई देंगी। इसलिए यहाँ विषय से थोड़ा-सा

Scanned by CamScanner

हटकर पहले विश्वयुद्ध के छिड़ने के बाद भारतीय रजवाड़ों की कहानी को सामने रखना उपयुक्त ही होगा।

अगर बीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों में कर्ज़न की हस्तक्षेपवादी संरक्षक वृत्ति की नीति ने राजाओं और अंग्रेज़ी राज के संबंधों में तनाव पैदा किया, तो मिंटो की अहस्तक्षेप की नीति ने दोनों के बीच फिर से मेलजोल पैदा किया। इस दूसरी नीति का उद्देश्य ब्रिटिश भारत को अपने फैलाव में समेट रहे राजनीतिक परिवर्तनों से रजवाड़ों को अप्रभावित रखना और उनकी जनता को राष्ट्रवाद की उभरती भावनाओं से दूर करना था।[125] पहले विश्वयुद्ध के बाद यही अलगाव और राजनीतिक बाड़ा (political quarantine) धीरे-धीरे टूटने लगे। इस युद्ध ने एक बार फिर साम्राज्य के लिए राजाओं, महाराजाओं की उपयोगिता साबित की, क्योंकि उन्होंने युद्ध कोष में खुलकर दान दिए, मूल्यवान सैनिक सेवाएँ प्रदान कीं और अपने रजवाड़ों में सैनिकों की भरती को प्रोत्साहित किया। इसलिए युद्ध के अंत के बाद वे अपनी सेवाओं की मान्यता के रूप में राजनीतिक विभाग की रौब डालने की प्रवृत्तियों पर अधिक संवैधानिक प्रतिबंध, ब्रिटिश भारत में उठती राजनीतिक लहरों से सुरक्षा की अधिक गारंटी और साम्राज्य की सलाह-मश्विरा की प्रक्रिया में अधिक भागीदारी चाहते थे।[126] इसलिए युद्धोपरांत संवैधानिक सुधारों के बारे में मांटेग्यू और चेम्सफ़ोर्ड ने अपनी जाँच-पड़ताल शुरू की, तो राजाओं ने दूसरे प्रश्नों के साथ एक चैंबर ऑफ़ प्रिंसेज़, एक सलाहकार समिति और भारत सरकार तक सीधी पहुँच के अधिकार की माँग भी उठाई। 1919 के ऐक्ट में रजवाड़ों से संबंधित सभी विषयों पर तथा सर्वोच्च सत्ता के साथ उनके संबंधों पर अंग्रेज़ी राज को सलाह देने के लिए एक 120 सदस्यों वाले चैंबर ऑफ़ प्रिंसेज़ की व्यवस्था थी। लेकिन उसकी सदस्यता की संरचना विवाद का एक प्रमुख मुद्दा बनी रही और आखिरकार यह तय पाया गया कि 11 तोपों या उससे अधिक की सलामी पाने वाले सभी राजाओं का सीधा प्रतिनिधित्व होगा, जबकि छोटे राजा अपने बीच में से 12 प्रतिनिधियों का चुनाव करेंगे। इस चैंबर का उद्घाटन लाल किले में फरवरी 1921 में हुआ और वह आपसी जलन और झगड़ों के कारण शुरू से ही विभाजित रहा। फिर भी उसने राजाओं के भौतिक और राजनीतिक, दोनों तरह के अलगाव को तोड़ा।[127]

लोकप्रचलित विश्वास के विपरीत रजवाड़े ब्रिटिश भारत से इसलिए कभी पूरी तरह कटे हुए नहीं रहे, न ही उनकी सरहदें कभी अलंघ्य रहीं, क्योंकि उनमें पास के प्रांतों से राष्ट्रवादी राजनीति और सांप्रदायिक तनाव, दोनों का बराबर प्रवेश होता रहा। मसलन जब रजवाड़ों में किसान और आदिवासी आंदोलन फूटे, जैसे 1921-22 के दौरान जागीरदारों के दमन और भूमि करों के प्रतिरोध में मेवाड़ का विजौनिया आंदोलन या मोतीलाल के नेतृत्व में सिरोही में भीलों का आंदोलन, तो उन्होंने

Scanned by CamScanner

गांधी से प्रेरणा प्राप्त की और राष्ट्रवादी आंदोलन से संपर्क स्थापित किए। मोतीलाल को तो बल्कि स्थानीय गांधी भी कहा जाने लगा, जबकि खुद गांधी ने इस आंदोलन से अपना संबंध तोड़ लिया था।[128] ब्रिटिश भारत की राजनीति में कभी-कभी राजाओं ने भी सक्रिय रुचि ली। मसलन अलवर और भरतपुर के शासक बीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों में हिंदू राष्ट्रवाद के प्रचंड समर्थक थे और उन्होंने सचेत ढंग से अपने रजवाड़ों का हिंदूकरण किया। उन्होंने आर्यसमाज की गतिविधियों को संरक्षण दिया, उर्दू की जगह हिंदी को बढ़ावा दिया, गोरक्षा और शुद्धि आंदोलन का समर्थन किया और इस प्रक्रिया में शहरी मुसलमानों को विमुख कर दिया। अलवर का राजा जयसिंह, जो अपनी प्रजा से एक भारी देशभक्त का सम्मान पाता था, अपने सचेत राष्ट्रवादी प्रदर्शन के कारण उपनिवेशवादी राक्षस-गाथा (demonology) में प्रमुख स्थान पाता रहा, मसलन वह यूरोप वालों से दस्ताने पहने बगैर हाथ नहीं मिलाता था। भरतपुर में वित्तीय अनियमितताओं के कथित आरोपों के कारण राजा को हटा दिया गया था; आर्यसमाज, कांग्रेस और जाट महासभा के गठजोड़ ने इस क्षेत्र को पूरे राजस्थान में राष्ट्रवाद का एक प्रमुख केंद्र बना दिया था।[129] लेकिन दूसरी ओर अनेक दूसरे राजा भी थे, जो अंग्रेज़ी राज के वफ़ादार बने रहे और जब राष्ट्रवाद की चुनौती तीखी होने लगी, तो उसके सबसे विश्वसनीय सहयोगी साबित हुए। बीसवीं सदी के पहले दशक में जब गरमपंथ और आतंकवाद का ज़ोर बढ़ा और फिर आगे चलकर जब असहयोग आंदोलन ने इस उपमहाद्वीप को झकझोरा, तो राजाओं ने अपने इलाकों में इस लहर को रोकने के लिए मूल्यवान सेवा प्रदान की। प्रिंस ऑफ़ वेल्स के दौरे का अगर कांग्रेस ने बहिष्कार किया, तो राजाओं के पुरजोश और शानदार स्वागत के कारण ही वह दौरा थोड़ा-बहुत कायदे का बना। लेकिन 1920 के दशक के दौरान इन सभी रजवाड़ों में **प्रजामंडलों** के रूप में जन-आंदोलन उभरने लगे। ये मंडल आखिरकार ऑल इंडिया स्टेट्स पीपुल्स कॉन्फ्रेंस नाम के एक राष्ट्रीय संगठन से संबद्ध हो गए, जिसकी स्थापना 1927 में हुई और जिसका मुख्यालय बंबई में था। उसने लोकतांत्रिक अधिकारों और संवैधानिक परिवर्तनों की नरम माँगें ही उठाईं, जिनका जवाब अनेक राजाओं ने तीखी प्रतिशोध-भावना और भारी दमन से दिया। लेकिन अगर उनमें से अधिकांश रजवाड़े अपनी स्वतंत्रता और प्रभुसत्ता की रक्षा के प्रति संवेदनशील थे, तो कुछ अपवाद भी थे जैसे बड़ौदा, मैसूर, त्रावणकोर और कोचीन जिन्होंने, सीमित दायरों में ही सही, कुछ संवैधानिक परिवर्तन करने शुरू कर दिए थे।[130]

कुछ रजवाड़े ऐसे भी थे जैसे मैसूर या त्रावणकोर जहाँ कांग्रेस की राजनीति काफ़ी पैठ बना चुकी थी।[131] लेकिन इस पूरे काल में कांग्रेस दिखावे के तौर पर राजाओं के प्रभुसत्ता संबंधी परंपरागत अधिकारों का सम्मान करते हुए होशियारी के साथ रजवाड़ों के मामलों में अहस्तक्षेप की एक आधिकारिक नीति अपनाती रही।

Scanned by CamScanner

अकेला अपवाद 1928 में किया गया जब कांग्रेस के एक प्रस्ताव ने राजाओं से "प्रातिनिधिक संस्थाओं पर आधारित उत्तरदायी शासन लागू करने का" आग्रह किया तथा "पूर्ण उत्तरदायी शासन" की प्राप्ति के लिए प्रयासरत भारतीय रजवाड़ों की जनता के "वैध और शांतिपूर्ण संघर्ष" के प्रति "सहानुभूति" और "समर्थन" व्यक्त किया।[132] लेकिन ऐसी ज़बानी हमदर्दी का कोई खास मतलब रजवाड़ों की जनता के आंदोलनों और कांग्रेस की गुप्त शाखाओं के लिए नहीं था, जिनके साथ अधिकांश राजे-महाराजे सख्त प्रतिरोध करते रहे। इसलिए जब सविनय अवज्ञा आंदोलन का आरंभ हुआ, तो भावनगर, जूनागढ़ या काठियावाड़ जैसे थोड़े-से अपवादों को छोड़कर अंग्रेज़ी राज के समर्थक रजवाड़े अपने-अपने इलाकों में कांग्रेसी गतिविधियों के दमन के लिए पहले जितने ही भरोसेमंद साबित हुए।[133]

इसलिए इन तमाम बरसों के दौरान अंग्रेज़ी राज ने अपने उन अधीनस्थ सहयोगियों का उपयोग, जो प्राचीन और अंग्रेज़ों की समझ में प्रामाणिक भारत का प्रतिनिधित्व करते थे, प्रांतों में राष्ट्रवाद की नई शक्तियों के खिलाफ़ कारगर हथियारों के रूप में किया। रजवाड़ों में लोकतांत्रिक संवैधानिक परिवर्तन लाने के लिए शायद ही कुछ किया गया हो, ताकि वे ब्रिटिश भारत के राजनीतिक विकासक्रमों के बराबर आ सकें। इसके कारण भविष्य का सामना करने के लिए तैयारी से रहित राजे-महाराजे अपनी शासन संबंधी आंतरिक स्वतंत्रता को राष्ट्रवादी नेताओं से मिलनेवाली चुनौती के बारे में अधिकाधिक बौखलाहट के शिकार होने लगे।[134] इसका मतलब यह नहीं था कि अंग्रेज़ी राज रजवाड़ों के मामलों में हस्तक्षेप से परहेज़ करता था। वास्तव में राजनीतिक विभाग में ऐसे अनेक अधिकारी थे, जो बराबर सर्वोच्चता की शक्ति सीमाओं को फैलाते रहते थे और राजाओं को अपनी संवैधानिक स्थिति के बारे में एक निष्पक्ष जाँच का शोर मचाने पर मज़बूर करते रहते थे। लेकिन इंडियन स्टेट्स कमिटी ने, जिसका गठन 1928 में सर हारकोर्ट बटलर की अध्यक्षता में किया गया था, अपनी रिपोर्ट (1929) में घेरे में बंद राजाओं को शायद ही कोई राहत पहुँचाई होगी। उसने उनको एक रियायत इस वादे के रूप में दी कि उनकी सहमति के बिना ब्रिटिश भारत में लोकतांत्रिक ढंग से निर्वाचित किसी सरकार को सर्वोच्चता का हस्तांतरण नहीं किया जाएगा। मगर साथ ही साथ उसने असीमित शक्तियों वाली सर्वोच्च सत्ता की सर्वोच्चता पर फिर से ज़ोर दिया, किसी विशेष रजवाड़े में सुधारों की व्यापक माँग उठ रही हो तो वहाँ किसी संवैधानिक परिवर्तन का सुझाव देने के बारे में भी। जैसा कि राजनीतिक विभाग के एक अधिकारी ने स्वीकार किया, उसने सर्वोच्चता के सिद्धांत को "अभी तक स्वीकृत किसी भी सीमा से आगे" तक फैला दिया।[135]

इस तरह दीवार से पीठ लग जाने और दो पाटों के बीच में दब जाने के बाद अब राजाओं ने राजनीति में दिलचस्पी लेनी शुरू कर दी और कुछ नरमपंथी

Scanned by CamScanner

राजनीतिज्ञों से मेलजोल बढ़ाने लगे। संघ के विचार में, जिसका सुझाव सबसे पहले 1928 में मोतीलाल नेहरू रिपोर्ट ने दिया था, उनको अपनी मौजूदा हालत से बाहर निकलने का एक आदर्श रास्ता नज़र आया। एक स्वतंत्र अखिल भारतीय संघ में शामिल होकर वे "सर्वोच्चता की जकड़" से निकल सकते और साथ ही अपनी आंतरिक स्वतंत्रता को सुरक्षित रख सकते थे। पर इस बारे में सभी राजा निश्चित भी नहीं थे और महाराजा पटियाला इस गुट के नेता थे। आखिर 11 मार्च को एक आपसी समझौता किया गया, जिसे "दिल्ली समझौता" के नाम से जाना गया और 1 अप्रैल 1932 को चैंबर ऑफ़ प्रिंसेज़ ने इसका अनुमोदन किया। इस तरह संघ की माँग को भारतीय राजाओं की एक संवैधानिक माँग के रूप में पेश किया गया। लेकिन जैसा कि इयान कॉपलैंड ने दिखाया है, इस माँग के साथ कुछ ऐसे सुरक्षा उपाय भी जुड़े हुए थे जिनको तय था कि अंग्रेज़ और राष्ट्रवादी, दोनों अस्वीकार कर देंगे। वे, मिसाल के लिए, संघीय विधायिका के ऊपरी सदन में चैंबर ऑफ़ प्रिंसेज़ के सभी सदस्यों के लिए अपनी-अपनी सीटें, संधियों से प्राप्त अधिकारों की रक्षा चाहते थे, यह चाहते थे कि संघ सरकार के अधीन रखे जानेवाले विषय सदस्य रजवाड़ों की आपसी सहमति से तय हों और सबसे बढ़कर यह कि उनको अलग होने का अधिकार हो।[136] अंग्रेज़ों को संघ का विचार पसंद था, क्योंकि उस दशा में ये राजे प्रांतों के राष्ट्रवादी राजनीतिज्ञों की काट कर सकते थे, पर उनका संघ का विचार राजाओं के विचार से भिन्न था। अगर पहले गोलमेज़ सम्मेलन में भारतीय रजवाड़ों के प्रतिनिधियों ने संघ के विचार पर उत्साह के साथ बहस की थी, तो उसके दूसरे सत्र तक उनमें से बहुतों का जोश ठंडा पड़ चुका था। जनवरी 1935 के अंतिम दिनों में अपने बंबई सत्र में चैंबर ने एक प्रस्ताव पारित किया, जो संघ के प्रस्ताव की उस समय तक विकसित रूपरेखा की सख्त आलोचना से भरा हुआ था। आखिरकार भारत सरकार अधिनियम को जब 2 अगस्त 1935 को शाही स्वीकृति मिली, तब उसमें शामिल संघ की योजना राजाओं के बहुमत को शायद ही संतुष्ट कर सकती थी।[137]

लेकिन इयान कॉपलैंड (1999) का तर्क है कि इस चरण में भी राजे-महाराजे संघ को पूरी तरह अस्वीकार नहीं कर रहे थे, बल्कि एक बेहतर पेशकश की सौदेबाज़ी कर रहे थे। वे चाहते थे कि विलयपत्र में उनके दो प्रमुख सरोकारों पर समुचित ध्यान दिया जाए, अर्थात् संधियों के द्वारा उनको प्राप्त अधिकारों की मान्यता और उनकी आंतरिक स्वतंत्रता की सुरक्षा पर। हालाँकि नए वायसरॉय लिनलिथगो ने ऐसे कुछ परिवर्तनों की सिफ़ारिश की, पर नौकरशाहों की भारी हुज्जत ने इस प्रक्रिया में कई वर्षों की देरी लगा दी। इस बीच 1937 के प्रांतीय चुनावों के बाद कांग्रेस के नाटकीय राजनीतिक उत्थान से राजा-महाराजा बौखला उठे। 1938 में कांग्रेस के हरिपुरा सत्र ने रजवाड़ों के मामलों में अहस्तक्षेप की परंपरागत कांग्रेसी नीति को

Scanned by CamScanner

पलीता लगा दिया और अगले कुछ महीनों में, कांग्रेस के सक्रिय संरक्षण के साथ, ऑल इंडिया स्टेट्स पीपुल्स कॉन्फ्रेंस के नेतृत्व में प्रचंडतम जन-आंदोलन ने भारतीय रजवाड़ों को हिलाकर रख दिया (इस आंदोलन की और विस्तृत चर्चा के लिए अध्याय 8.1 देखें)। छोटे और मझोले आकार के रजवाड़े जनता के इस तरह के उभार के लिए शायद ही तैयार थे और उन्होंने झुककर कांग्रेस के प्रति एक अधिक समझौतावादी रुख अपना लिया। लेकिन बड़े रजवाड़ों ने भयानक अक्खड़पन के साथ जवाबी कार्रवाई की और उनकी मदद ब्रिटिश सेना ने की। इस तरह 1939 में अधिकांश राजाओं की समझ में कांग्रेस अपना असली रंग दिखा चुकी थी और इसलिए उस पर फिर कभी भरोसा नहीं किया जा सकता था। जनवरी 1939 में लिनलिथगो ने जब आखिरकार एक संशोधित प्रस्ताव सामने रखा, जिसमें कुछ छोटी-मोटी रियायतें दी गई थीं, तो उनमें से अधिकांश के लिए संघ तब तक एक ऐसी शुद्ध बुराई बन चुका था, जिसे एक सिरे से अस्वीकार कर दिया जाए। जून में चैंबर ऑफ़ प्रिंसेज़ की बंबई सभा ने ऐसा ही किया और फिर जब अगस्त में यूरोप में युद्ध भड़क उठा, तो भारत सचिव जेटलैंड ने संघ के प्रस्ताव को फ़ौरन "बस्ते" में बंद कर दिया।[138]

टिप्पणियाँ

1. और ब्यौरों के लिए स्टोक्स 1959: 288 देखें।
2. और ब्यौरों के लिए स्टोक्स 1959: 288-310 देखें। साम्राज्यिक विचारधारा की और अधिक विवेचना के लिए अध्याय 2.1 भी देखें।
3. सील 1973.
4. रॉब 1976: 3.
5. वुड्स 1994: 31.
6. देशिका चार 1983: 457 में उदधृत।
7. वुड्स 1994: 42.
8. ब्रिज 1986: 5.
9. टॉमलिंसन 1976a: 10.
10. रॉब 1976: 268.
11. सील 1973.
12. ब्राउन 1972: 28.
13. कुमार 1971: 4.
14. लो 1968: 1.

Scanned by CamScanner